

॥श्री हरिः॥

मनुष्य बनो!

वेद का निर्देश है, उद्घोष है — 'मनुर्भवः' अर्थात् मनुष्य बनो। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या हम मनुष्य नहीं हैं जो वेद को ऐसा कहना पड़ा है। इस पृथ्वी पर वर्तमान काल में छः अरब से भी अधिक मानव विचरण कर रहे हैं तो क्या वे मनुष्य नहीं हैं। हाँ, शकल-सूरत से वे अवश्य मनुष्य हैं परन्तु गुणधर्म की दृष्टि से देखा जाए तो अधिकांश लोग पशुवत ही जीवन यापन कर रहे हैं। वेद ऐसे मनुष्यों को मनुष्य की कोटि में नहीं रखता। ठीक भी है जैसे किसी व्यक्ति के पास धर्म नहीं हो तो उसे धर्मात्मा नहीं कहा जाता, किसी पुरुष में महानता के गुण नहीं हों तो उसे महात्मा नहीं कहा जाता, किसी सरोवर में जल नहीं हो तो उसे जलाशय नहीं कहा जाता। इसी प्रकार मनुष्य में यदि मनुष्यत्व नहीं है तो उसे मनुष्य कैसे कहा जा सकता है? केवल मनुष्य शरीर पा लेने भर से तो वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता। हमारे पास मनुष्य की सूरत तो है परन्तु सीरत का अभाव है। मनुष्य तो चोर भी है जो निर्दयता के साथ दूसरों का धन चुरा लेता है, वह तो कसाई भी है जो प्रतिदिन मूक और निरीह पशु-पक्षियों का रक्त बहाकर प्रसन्न होता है। मनुष्य तो वेश्या भी है जो रूप-बाजार में बैठकर चन्द चान्दी के टुकड़ों के लिए अपने जीवन को पतन के गर्त में धकेलती है। तात्पर्य यह है कि भगवत्कृपा से हम मनुष्य तो बने, पर दुर्भाग्य से मनुष्यत्व नहीं पा सके जिसके बिना किया कराया सब धूल में मिल गया और वेद को कहना पड़ा — "मनुष्य बनो।" जब हम वेदशास्त्र की इस ऋचा पर विचार करते हैं तो वेद का कथन सत्य प्रतीत होता है और मनुष्य एवं पशु का अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है —

येषां न विद्या, न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं गुणो न धर्मः।
त मृत्युलोके भुविभारभूताः,
मनुष्यरूपेण मृगाःचरन्ति॥

अर्थात् जिन लोगों का मन विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील और धर्म में रत नहीं है, वे तो मृत्युलोक में पृथ्वी पर भार स्वरूप ही हैं और मनुष्य रूप में मृग की तरह विचरण करते हैं। वेद के कहने का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति विद्या के स्वरूप को न जानकर केवल अक्षर ज्ञान में रत होकर अपने आपको विद्वान समझते हैं और ब्रह्म प्राप्ति के साधन नहीं करते, जिनका आचरण धर्मानुकूल नहीं है, आत्म-कल्याण के मार्ग का जिनको ज्ञान नहीं, पढ लिखकर जिसने इहलोक और परलोक का सुधार नहीं किया, विद्या के द्वारा जिन्होंने तीन अनादि पदार्थों को जानकर मानव जीवन के परम पुरुषार्थ —

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते हैं, वे केवल पुस्तकें पढ़कर साक्षर होने से मनुष्य नहीं बन सकते। असत्य, अधर्म, अनीति, अत्याचार और अहंकार आदि प्रवृत्तियाँ मानव को दानव में परिणित कर देती हैं। ऐसे दुराचारी मनुष्यों को भगवान ने असुर कहा है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं —

**दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञान चाभिजातस्य पार्थ सम्पदामासुरीम् ॥ (16/4)**

अर्थात् हे पार्थ! जो लोग पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध और कठोर वाणी व अज्ञान के मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे आसुरी सम्पदा वाले हैं; मनुष्य नहीं अपितु अमानुष हैं।

‘सा विद्या या विमुक्तये’ अर्थात् विद्या वह है जो अज्ञान और बंधन से छुटकारा दिला दे, जो आत्म-कल्याण के मार्ग को प्रशस्त कर दे, जिसे प्राप्त कर मनुष्य विवेकशील होकर दूसरों को भी मानवता के मार्ग पर ले चलने में अपने कर्तव्य की पूर्णता समझे। विद्या के द्वारा मनुष्य विनम्र बनता है और उसमें ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की योग्यता आ जाती है — “विद्याददातिः विनयम्, विनयाधाति पात्रताम् ॥” यदि विद्या प्राप्त करने के उपरान्त भी मनुष्यत्व जाग्रत नहीं होता तो वह निरा पशु ही है। विद्या से ही मनुष्य को सत्य-असत्य के भेद का बोध होता है, जिससे वह श्रेय मार्ग पर चलने को प्रवृत्त होता है और सही अर्थों में मानव कहलाने का अधिकारी बनता है।

मनुष्य और पशु में अन्तर करने वाला दूसरा तत्त्व है — तप। मनुष्य बनने के लिए तप की विशेष आवश्यकता है। सुख-दुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए धर्म के मार्ग पर चलना तप कहलाता है। सत्याचरण, इन्द्रियदमन, यम-नियमादि का पालन करना एवं मनको धर्मादि कार्यों में लगाना तप का ही स्वरूप है। इसी भाव को लेकर गीता में भी कहा गया है — ‘यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्’ अर्थात् यज्ञ, दान, तप, त्याग न केवल करने योग्य कर्म हैं, अपितु अनिवार्य कर्म हैं, इनका परित्याग नहीं किया जाना चाहिए।

मनुष्य के जीवन में दान का अतिशय महत्व है। धर्मशास्त्रों का कथन है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा के पुकारने पर भी धन, बल, बुद्धि, ज्ञान, योग, तन और मन से अर्थात् जो भी शक्ति आपके पास हो, उसके द्वारा दान रूप में किसी की सहायता नहीं करता उसका जीवन पशु से भी निम्नतर है। संसार के समस्त प्राणी और पेड़-पौधे प्रकृति के नियमानुसार देने में लगे हुए हैं और मनुष्य को भी दान करने के लिए प्रेरित

करते हैं। जो मनुष्य प्रभु के द्वारा प्रदत्त धन का शास्त्रानुसार दान नहीं करता है, वह पाप खाता है और नरकों का अधिकारी बनता है। दान करने से धन घटता नहीं अपितु बढ़ता है जैसाकि कबीर साहिबजी भी कह रहे हैं -

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घट्यो नीर।

दान दिए धन न घटे, कह गये दास कबीर।।

वस्तुतः ज्ञान ही वह तत्व है जो मनुष्य और पशु में भेद उत्पन्न करता है। ईश्वर-जीव, प्रकृति-विद्या, अविद्या तथा बंधन-मोक्ष का ज्ञान केवल मनुष्य को ही हो सकता है। आज मनुष्य केवल भौतिकवाद में ही उलझकर रह गया है। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों को साथ लेकर चलने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है अन्यथा केवल भौतिक सम्पन्नता से पशुत्व जागृत हो उठेगा। ज्ञान के अभाव में मनुष्य केवल शकल-सूरत से मनुष्य दिखाई देता है परन्तु गुण से वह पशु ही रहता है। सत्य, अहिंसा, क्षमा, प्रेम, परोपकार, न्याय, धर्म आदि गुणों से ही मनुष्य की पहचान होती है। तप, त्याग और दान उसकी महिमा का संवर्द्धन करते हैं। अतः मनुष्यता के मार्ग पर चलने के लिए मनुष्य को ज्ञानवान अवश्य होना चाहिए।

मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सब पर दया करना और यथाशक्ति सुपात्र को दान देना यह शील कहलाता है। महाभारत के शांति पर्व में कहा गया है -

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च शीलं तत् प्रशस्यते।।

शील को मनुष्य का सबसे बड़ा गुण माना गया है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो यहां तक कह दिया है कि शील में तीनों लोकों की सम्पदा समाहित होती है-

शीलवन्त सबतें बड़ा, शील गुणों की खान।

तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन।।

धर्म को मानवता का प्राण कहा गया है। हितोपदेश में कहा गया है कि आहार, निद्रा, भय और विषय-भोग यह चारों प्रवृत्तियां मनुष्य और पशु में स्वभावतः समान रूप से पाई जाती हैं। दोनों में यदि कोई अन्तर है तो बस इतना कि मनुष्य में अपने धर्म के पालन का विवेक होता है जो पशु में नहीं होता है। यदि दोनों में यह अन्तर न हो तो मनुष्य और पशु एक समान ही हैं -

आहार, निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणां।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।।

मनुस्मृति में धर्म के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि धर्म के नष्ट करने वाले को धर्म नष्ट कर देता है और धर्म की रक्षा करने वाले को धर्म रक्षा करता है— "धर्मःरक्षितो रक्षितः।" इसलिए नष्ट किया हुआ धर्म हमें नष्ट न कर दें, इस विचार से हमें धर्म का नाश नहीं अपितु उसका पालन ही करना चाहिए। वस्तुतः धर्म ही जीवन की आधारशिला है। इसके बिना सृष्टि के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। तनिक विचार कीजिए कि यदि सूर्य, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु आदि अपने धर्म का पालन करना छोड़ दें तो सृष्टि की क्या दशा होगी। निश्चय ही सृष्टि का चलना असम्भव हो जाएगा। यही बात मानव धर्म में भी लागू होती है। यही कारण है कि जब-जब धर्म का पतन या नाश होता है तब-तब सर्वेश्वर इसकी पुनर्स्थापना हेतु अवतार लेते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (4/7)

अर्थात् हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील तथा धर्म के गुणों के बिना मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं है, वह नर पशु के सदृश ही है। इसलिए वेद ने मानव को मनुष्य बनने का निर्देश दिया है। यदि वह मनुष्य नहीं बनता है अर्थात् अपने भीतर मानवीय गुणों का विकास नहीं करता है तो उसका जन्म लेना व्यर्थ है, क्योंकि जिस प्रयोजन के लिए उसका जन्म हुआ है वह पूर्ण नहीं होगा। शुक्रनीति में कहा गया है कि जाति और कुल का कोई महत्व नहीं है, केवल मनुष्य के कर्म, शील और गुण ही पूज्य हैं। जाति, कुल से श्रेष्ठत्व प्रतिपादित नहीं होता अर्थात् मनुष्यत्व स्थापित नहीं होता—

कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जाति कुलन हि ।
न जात्या न कुलैर्नैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते ॥

सत्यापन

सत्यापित किया जाता है कि उक्त आलेख मौलिक तथा अप्रकाशित है।



(ताराचन्द आहूजा)

प्रस्तुति



(ताराचन्द आहूजा)

निदेशक, धार्मिक पुस्तकालय,

हंस विहार मंदिर, 4/114, एस.एफ.एस.,

अग्रवाल फार्म, मानसरोवर, जयपुर-302020

फोन नं: 0141-2395703